

फेल न करने की नीति के

अन्तर्विरोधी विचार से परे

रोहित धनकर

विद्यालयों के वर्तमान ढांचे और पाठ्यचर्या को देखते हुए मीडिया में बार-बार उठने वाली सतत एवं समग्र मूल्यांकन तथा फेल न करने की नीति से जुड़ी चर्चाएं पूरी तरह निरर्थक लगती हैं। इसी के परिणामस्वरूप हम आरंभिक शिक्षा को विद्यालय में बच्चों द्वारा बिताए गए वर्षों से परिभाषित करते हैं। परीक्षा प्रणाली शिक्षण शास्त्र, पाठ्यचर्या एवं पाठ्यपुस्तकों में सुधार लाने के सारे प्रयासों को बर्बाद कर देती है। अतः परीक्षा व फेल करने की व्यवस्था दोनों को ही हटाकर विद्यालय व पाठ्यचर्या की एक वैकल्पिक कल्पना शैक्षिक सुधारों की सफलता के लिए बहुत ही जरूरी है।

कक्षा 5 के बाद फेल न करने की नीति (नो डिटेंशन पॉलिसी) को वापस लेने के विषय में अखबारों में छपी टी. एस. आर. सुब्रमण्यम कमेटी की रिपोर्ट के बाद फेल ना करने की नीति के समर्थकों द्वारा हल्ला मचाना प्रारंभ कर दिया गया है। यह एक प्रकार का मौसमी बुखार है, जिससे भारतीय शिक्षाविद पीड़ित हैं। जब भी सरकार फेल न करने की नीति को हटाने के संदर्भ में कुछ कदम उठाने को सोचती है, तब शिक्षाविद ये सुझाव देने लगते हैं कि यह कदम शिक्षा व्यवस्था को कितना पीछे ले जाएगा और मात्र बच्चों को फेल करने से ही सीखने की प्रक्रिया परिपूर्ण नहीं होती। देखा जाए तो शिक्षाविद सही भी हैं लेकिन इस समस्या के संदर्भ में उनके विश्लेषण में गड़बड़ है, क्योंकि सतत एवं व्यापक मूल्यांकन (सी.सी.ई) तथा फेल न करने की नीति, ये दोनों सुधार भारतीय शिक्षा व्यवस्था के वर्तमान स्वरूप में सफल नहीं हो सकते।

वहीं सतत एवं व्यापक मूल्यांकन तथा फेल न करने की नीति को त्याग देने से भी बच्चों के सीखने के स्तर में किसी प्रकार का सुधार नहीं हो सकता। अतः वर्तमान स्वरूप में इस पर होने वाली चर्चाएं निरर्थक और दिशाहीन बहस हैं। फेल न करने की नीति को सफल बनाने के लिए दो तरह की समस्याओं का हल निकाला जाना जरूरी है। उनमें से पहली समस्या जिस पर अक्सर चर्चा होती है, वह यह है, कि हमारी व्यवस्था संसाधन उपलब्ध नहीं करवाती और फेल न करने की नीति व सतत एवं व्यापक मूल्यांकन जैसे जटिल सुधारों के लिए अध्यापकों की क्षमता बढ़ाने पर काम नहीं करती इस व्यवस्था और इसके प्रशासकीय तबके की यह आलोचना बहुत हद तक सही है इसके साथ ही प्रतिबद्धता की कमी इसे और कमजोर बना देती है। सरल रूप में कहा जाये तो सतत एवं व्यापक मूल्यांकन की संकल्पना समझे बिना और इससे जुड़ी जटिल शिक्षण शास्त्रीय प्रक्रियाओं पर महारथ हासिल किए बिना न तो अध्यापक इसे प्रभावी रूप से लागू कर सकते हैं न ही इस पर निर्भर फेल न करने की नीति को सफल बना सकते हैं।

यहां पर एक दूसरा बड़ा अंतर्विरोध और भी है, जिस पर या तो शिक्षाविदों व नीति निर्माताओं का अक्सर ज्यादा ध्यान नहीं जाता या वे जल्दी परिणाम प्राप्त करने की ललक में नजर अंदाज करते हैं। चलिए हम पहले यह समझ लेते हैं कि किसी प्रक्रिया के दौरान परस्पर विरोधी कार्य उसके इच्छित उद्देश्यों की प्राप्ति

को असंभव बना देते हैं। उदाहरण के लिए हम कल्पना करते हैं, कि जगन्नाथ पुरी रथ को विभिन्न दिशाओं में उनके हजारों भक्तों द्वारा खींचा जाए, इन भक्तों का विश्वास व आस्था कितनी भी सुदृढ़ क्यों न हो, उनकी भुजाएं कितनी भी ताकतवर क्यों ना हों उनकी भारी रथ को खींचने के काम में आने वाली भौतिक शक्ति कितनी भी क्यों न, यदि हजारों लोगो द्वारा लगाई गई ताकत एक निश्चित दिशा में न लगे तो रथ डगमगाएगा, वह टूट कर बिखर भी सकता है लेकिन वह उसके पूर्व निर्धारित गंतव्य पर नहीं पहुंच पाएगा।

भारतीय शिक्षा व्यवस्था भी जगन्नाथ पुरी के रथ जैसी ही है, बल्कि यह उससे भी बड़ा, पुराना, जर्जर और भारी रथ है। तर्कसंगत सामंजस्य तथा तारतम्यता भले ही हर हाल में सफलता की प्राप्ति को सुनिश्चित न करें पर बेतरतीबी और अंतर्विरोध तो निश्चित रूप से उद्देश्यों की प्राप्ति की प्रक्रिया को बर्बाद कर देते हैं। दूसरे शब्दों में वो बात जो तर्क और सैद्धांतिक स्तर पर खरी नहीं उतरती, वह लागू होने पर सफल हो ही नहीं सकती। जब हम शिक्षा व्यवस्था के वर्तमान स्वरूप में फेल न करने की नीति लागू करने की बात करते हैं तो हम एक आधारभूत विरोधाभास खड़ा कर रहे होते हैं। इसी कारण से फेल न करने की नीति तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक हम विद्यालय और इसकी पाठ्यचर्या की पुनर्रचना नहीं करते।

लचीलेपन हेतु प्रयास

शिक्षा का अधिकार अधिनियम (2009) के अंतर्गत विद्यालय का कक्षा आधारित ढांचा आवश्यक है। विद्यालयों में कक्षा-कक्षाओं की संख्या, शिक्षकों की संख्या, शिक्षण कार्य के घंटे, शिक्षण सहायक सामग्री, खेल सामग्री आदि सभी कुछ एवं इन सभी से जुड़े मापदंड “कक्षाओं” के आधार पर तय किए गए हैं। यहां तक कि इस अधिनियम (धारा 2 एफ) के तहत “आरंभिक शिक्षा” को परिभाषित ही “कक्षा एक से कक्षा आठ तक की शिक्षा” के रूप में किया गया है। छः साल से ऊपर की आयु वाले बच्चे को अधिनियम (उप खण्ड 4) के अंतर्गत अपनी आयु के अनुरूप कक्षा में भर्ती किया जाना है। ऐसे बच्चों को बाकी बच्चों के स्तर तक आने के लिए विशेष प्रशिक्षण प्राप्त करने का अधिकार है। इसका मतलब यह हुआ कि “कक्षाओं” का संबंध सीखने के स्तर से है, और किसी कक्षा में दाखिला पाने वाले बच्चों में उस “कक्षा के स्तर” पर आने के लिए जरूरी तैयारी की कमी हो सकती है।

धारा 12 (1) (सी) के अनुसार निजी विद्यालयों को अपनी कक्षाओं में 25 प्रतिशत कमजोर तबके के बच्चे भर्ती करने होंगे। कक्षा की संकल्पना शिक्षा का अधिकार अधिनियम के केंद्र में है, और यह इतनी हावी है कि यदि हम अपने आप को कक्षा के विचार से अलग करना चाहें (हालांकि ‘कक्षा’ को शिक्षा का अधिकार अधिनियम ठीक से परिभाषित नहीं करता है) तो इस अधिनियम के सारे स्पष्टीकरण निरर्थक व लागू करने योग्य नहीं रह जाएंगे। ‘कक्षा’ शब्द शिक्षा का अधिकार अधिनियम का केंद्रीय बिन्दु है, इसके बावजूद भी अधिनियम में कहीं भी इसकी परिभाषा न दिए जाने के कारण किसी को भी यह मान लेना होता है कि “कक्षा” का तात्पर्य उस कक्षा से है जो आम तौर पर सभी भारतीय विद्यालयों में पाई जाती है। अतः इससे कोई यही निष्कर्ष निकालेगा कि शिक्षा का अधिकार अधिनियम के अनुसार विद्यालय अनिवार्य रूप से कक्षावार ही गठित किए जाने हैं।

पाठ्यचर्या का कक्षावार संयोजन : हमने ऊपर इस बात का उल्लेख किया है कि आरंभिक शिक्षा से तात्पर्य कक्षा 1 से 8 तक की शिक्षा से है। ऐसे बच्चे जो कि ‘सीखने के स्तर में बाकी बच्चों के बराबर नहीं हैं’, उन्हें आयु अनुरूप कक्षाओं में दाखिला दिलवाने के लिए “विशिष्ट प्रशिक्षण” की आवश्यकता होती है ताकि वे सीखने के प्रभावी स्तर तक पहुंच सकें। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पाठ्यचर्या की रचना कक्षावार है, और यही वर्तमान में भारत की शिक्षा व्यवस्था का सच है।

कक्षावार पाठ्यपुस्तकों की रचना : हालांकि शिक्षा का अधिकार अधिनियम स्पष्ट रूप से किसी पाठ्यपुस्तक के बारे में कुछ नहीं कहता। लेकिन इसके बावजूद चूंकि भारत में पाठ्यपुस्तकों का निर्माण अलग-अलग कक्षाओं व

विद्यालयों के लिए किया जाता है और पाठ्यचर्या का ढांचा कक्षा वार होता है, अतः यह तय है कि पाठ्यपुस्तकें कक्षा वार ही तैयार की जाएंगी।

अध्यापक कक्षावार पढ़ाते हैं : सभी भारतीय विद्यालयों में मौजूद परिपाटी से यह गैर परिभाषित- “कक्षा” शब्द इस तरह अपनी परिभाषा प्राप्त करता है- बच्चों का एक ऐसा समूह जिसे किसी खास पाठ्यपुस्तक से एक साथ पढ़ाया जाता है। वह पाठ्यपुस्तक पाठ्यचर्या में किसी खास कक्षा के लिए तय किए गए पाठ्यक्रम या ‘स्लेब्स’ से मेल खाती है। तो इस तरह अध्यापकों द्वारा शिक्षण किया जाता है और विद्यालयों का ढांचा अपना आकार ग्रहण करता है।

यही वह ढांचा है जो भारत में आरंभिक शिक्षा को परिभाषित करता है। शिक्षा का अधिकार अधिनियम अपनी शिक्षण शास्त्रीय सदाशयता के साथ अध्यापकों से कहता है कि

- i. बच्चों का दाखिला आयु अनुरूप कक्षा में करवाया जाना चाहिए।
- ii. “कोई भी बच्चा जो कि विद्यालय में दाखिला ले चुका है वह किसी भी कक्षा में रोका नहीं जाएगा”। (धारा 16)
- iii. अध्यापकों को “हर बच्चे की सीखने की क्षमता को परखना चाहिए व उसके अनुसार यदि किसी को अतिरिक्त सहायता की आवश्यकता है तो वह उसे देनी चाहिए”। धारा 24(1)(डी),
- iv. उन्हें “पूरी पाठ्यचर्या तय समय के भीतर पूरी करनी होगी”। धारा 24(1)(सी),

यदि आयु अनुरूप कक्षाओं में दाखिले संबंधित बिन्दु को छोड़ भी दिया जाए, तब भी हम यह जानते हैं कि कक्षा 5 में आधे से ज्यादा बच्चे लिखना व पढ़ना नहीं जानते (ASER Centre 2015:80) व तीन चौथाई बच्चे गणित के सरल भाग वाले प्रश्न नहीं कर सकते (ASER Centre 2015:81)। ऐसी ही परिस्थितियां पूरी आरंभिक शिक्षा व्यवस्था में व्याप्त हैं। यदि कोई अध्यापक कक्षा चार को पढ़ा रहा है, तब उस कक्षा के सभी बच्चों से कक्षा 4 के लिए निर्धारित की गई पाठ्यपुस्तक पर काम करना अपेक्षित है। भले ही वे बच्चे अलग-अलग स्तर पर हों और उनमें से कुछ बच्चे तो ये किताबें पढ़ भी नहीं पा रहे हों।

एक अध्यापक ऐसी कक्षा का प्रबंधन कैसे करेगा? यदि वह कक्षा 2 के लिए बनी किताबें कुछ बच्चों को देता है और उन्हें उनके स्तर से सिखाने का काम शुरू करता है, तो फिर उनके लिए कक्षा चार में होने का मतलब क्या हुआ? क्या एक कक्षा में साथ बैठने से सभी बच्चे एक कक्षा के हो जाते हैं? यदि बच्चे कक्षा 4 के सीखने के स्तर को पूरा नहीं कर पाते हैं, तब भी वह (अध्यापक/अध्यापिका) उन्हें इस कक्षा में रोक नहीं सकता है बल्कि उसे इन बच्चों को कक्षा 5 में प्रोन्नत करना ही पड़ेगा। और बच्चे प्रोन्नत किए जाने के बावजूद भी कक्षा पांच के पाठ्यक्रम से ताल मेल नहीं बिठा पाएंगे। ऐसे में कक्षा पांच में पढ़ने का क्या अर्थ है? अगली कक्षाओं में ऐसी निरर्थक प्रोन्नति से बच्चे को क्या लाभ प्राप्त होगा? ऐसे में पाठ्यचर्या को एक तय समय में पूरा किए जाने का मतलब इसके अलावा और क्या निकाला जा सकता है कि “पाठ्यचर्या अध्यापक द्वारा तय समय पर पूरी कर दी जाए, भले ही बच्चों ने कुछ सीखा हो या न सीखा हो?”

इस स्थिति में ‘आरंभिक शिक्षा को पूरा करने का फिर क्या मतलब है? बहुत से शिक्षाविद व शिक्षा का अधिकार अधिनियम इस परिस्थिति के एक ठोस उपचार के रूप में सतत एवं व्यापक मूल्यांकन को सुझाते हैं। इसके पीछे यह तर्क दिया जाता है कि यदि अध्यापक सतत एवं व्यापक मूल्यांकन की योजना को लागू करेंगे, तब उन्हें पता चल जाएगा कि कौनसा बच्चा सीखने में पीछे रह गया है, और तब उस बच्चे की समय रहते मदद की जा सकती है। लेकिन यह लोग यह नहीं समझते हैं कि यदि फेल न करने की नीति लागू है तब बच्चों के सीखने के वास्तविक स्तर और उनकी कक्षा के अनुरूप उनसे अपेक्षित स्तर का ये फासला काफी बड़ा हो जाएगा। और अध्यापक पहले से बच्चों की यह आवश्यकता जानने के बावजूद भी कुछ बच्चों के लिए पाठ्यचर्या/पाठ्यक्रम पूरी नहीं कर पाएंगे, क्योंकि इसके लिए उनके पास कोई तरीका नहीं है।

शिक्षा का अधिकार अधिनियम यह अपेक्षा करता है कि अध्यापक 'समस्त पाठ्यचर्या तय समय में पूरा करे', परंतु यहां यह अधिनियम यह नहीं समझ रहा है कि यह भी सत्य है कि पाठ्यचर्या को पूरा करने के लिए दो लोगों की जरूरत है - अध्यापक और सीखने वाले बच्चे। पाठ्यचर्या अध्यापक को पूरी नहीं करनी है, बल्कि इसे सीखने वाले बच्चों को पूरा सीखना है। हो सकता है, कि सीखने वाला दिए गए तय समय में इसे पूरा करने के लिए सक्षम ना हो, जिसका कारण उसकी तैयारी ना होना है। अतः उसके लिए पाठ्यचर्या को सिर्फ पूरा करने के उद्देश्य से समाप्त करना, अगली कक्षा में प्रोन्नति पाना व आरंभिक शिक्षा को पूरा करना, यह सब शैक्षणिक रूप से महत्वहीन हो जाता है।

शिक्षा व्यवस्था के वर्तमान गैर-लचीले ढांचे के अंदर फेल न करने की नीति व सतत एवं व्यापक मूल्यांकन सिर्फ एक राष्ट्रीय स्तर का पाखंड बन कर रह जाते हैं। यदि आप कक्षाओं को सीखने के स्तर से परिभाषित करते हैं, और एक कक्षा की पाठ्यचर्या को 1 वर्ष में पूरा किया जाना भी जरूरी है, और किसी कक्षा में सीखने के लिए पिछली कक्षा में सिखाई गई क्षमताएं होना आवश्यक हैं, तो इस स्थिति में फेल न करने की नीति बाल केन्द्रित प्रक्रियाओं की आधी-अधूरी समझ के नाम पर बच्चों के साथ एक क्रूर व हास्यास्पद मजाक बनकर रह जाती है।

लेकिन जैसा कि ऊपर कहा गया है यह भी उतना ही सच है कि बच्चों को फेल करना उन्हें सीखने में मदद नहीं करता। कई लोग जो फेल न करने की नीति को वापस लेने की मांग करते हैं, जरूरी नहीं वे यह दावा भी करते हों कि ऐसा करने से बच्चे सीखने ही लगेंगे। वे सिर्फ यह सुनिश्चित करना चाहते हैं कि, यदि किसी बच्चे को आरंभिक शिक्षा पूरी करने का प्रमाण पत्र मिलता है तो उस बच्चे को वह सब कुछ आना भी चाहिए जो पाठ्यचर्या में अपेक्षित है। अतः आरंभिक शिक्षा के लोहे जैसे कठोर ढांचे के अन्दर फेल न करने की नीति का समावेश करना, आरंभिक शिक्षा पूरी करने की परिभाषा को महत्वहीन बना देता है। वैसे परीक्षा प्रणाली की समस्याओं को सीखने में रटने पर जोर, बिना समझे सीखने पर जोर एवं बच्चों को होने वाले तनाव के रूप में भारतीय शिक्षा व्यवस्था में काफी पहले पहचाना जा चुका है (Government of India 1904 : 11-12; Hindustani Talimi Sangh 1938:37; NCERT 2005: 3, 20, 49, 71, 114)।

अतः यदि हमें शिक्षा के स्तर में सुधार लाना है तो वर्तमान में मौजूद परीक्षा प्रणाली व पास-फेल करने की व्यवस्था को विदाई देनी ही होगी। यह हमें ऐसे अंतर्द्वंद्व में डाल देता है जिसका वर्तमान पाठ्यचर्या व विद्यालयी ढांचे में कोई भी हल नहीं है।

परीक्षाओं को निरर्थक बनाना

फेल न करने की नीति, शिक्षा का अधिकार अधिनियम में मौजूद एक अन्तर्विरोध है, क्योंकि 'कक्षा' शब्द तभी अपनी सार्थकता हासिल करता है जब एक कक्षा से दूसरी कक्षा में प्रगति के बीच अवरोध की कुछ रेखाएं मौजूद हों। यह अवरोध की रेखाएं इस आधार पर खींची गई हैं कि क्या सीखा जाए व किस स्तर तक सीखा जाए। यह विषय वस्तु और उसका स्तर अगले चरण में सफलता पूर्वक शामिल होने के लिए जरूरी माना जाता है। इन मान्यताओं के बिना 'कक्षा' का कोई अर्थ नहीं है। इस स्थिति में पास-फेल करना तो कक्षा की परिभाषा में ही मौजूद है। कक्षा व पास-फेल करने की प्रक्रिया एक-दूसरे पर निर्भर हैं, और वे अपना अर्थ एक-दूसरे से ग्रहण करती हैं। परिणामस्वरूप, कक्षा आधारित विद्यालय व्यवस्था में फेल न करने की नीति की कल्पना भी करना सैद्धांतिक रूप से निरर्थक है।

इसलिए मैं यहां 'परीक्षा' व 'पास-फेल करने की प्रक्रिया' जैसी सार्थक शब्दावली का प्रयोग कर रहा हूं ताकि इससे मुक्ति पाई जा सके। हालांकि उसके लिए आवश्यक है कि विद्यालय व पाठ्यचर्या का पुनर्गठन इस तरह किया जाए कि 'परीक्षाएं ली जानी चाहिए या नहीं?' अथवा 'फेल करने की नीति रखनी चाहिए या नहीं?' जैसे सवाल ही अर्थहीन हो जाएं। भारत व विश्व में ऐसे कई विद्यालय हैं जिन्होंने इस तरह के संगठनात्मक ढांचों के निर्माण के लिए विस्तार से काम किया है। मैं नीचे विस्तार से ब्यौरा दूंगा कि पाठ्यचर्या का किस प्रकार का गठन व विद्यालयी ढांचा रटंत आधारित परीक्षाओं व पास-फेल करने की व्यवस्था को निरर्थक बना सकता है। पर ध्यान रहे कि जो योजना नीचे

दी गई है वह इस तरह की योजनाओं का एक उदहारण है। ऐसे कई वैकल्पिक संगठनात्मक ढांचे हैं जो कि ऐसा ही काम बेहतर ढंग से कर सकते हैं।

पाठ्यचर्या व शिक्षणशास्त्र के सिद्धांत

सर्वप्रथम हमें यह समझना होगा कि हमारे द्वारा चुनी गई पाठ्यचर्या व शिक्षण शास्त्र के आधार पर विद्यालय का ढांचा तय होना चाहिए ना कि इसके उलट। जब विद्यालयी व्यवस्था का ढांचा पाठ्यचर्या व संभावित शिक्षण शास्त्र तय करता है, तो यह निश्चित है कि वह सबसे पहले प्रबंधकीय व प्रशासकीय बातों पर ही ध्यान देगा। ऐसे में जो तरीका रिकॉर्ड रखने में आसान हो तथा प्रशासन को उस पर देख-रेख करने की आवश्यकता न पड़े ऐसा ही तरीका मानक बन जाएगा। इसलिए हमें सबसे पहले पाठ्यचर्या और उसे पढ़ाने का तरीका या शिक्षण शास्त्र निर्धारित करना चाहिए, उसके बाद ही विद्यालय के लिए उपयुक्त ढांचे पर विचार करना चाहिए।

दूसरा, पाठ्यचर्या का उद्देश्य शिक्षा के लक्ष्यों को प्राप्त करना होना चाहिए, इसे लोकप्रिय भावनाओं, वर्तमान राजनीति और शिक्षा से जुड़े प्रशासकीय अधिकारियों की सहूलियत से प्रेरित होकर नहीं बनाया जाना चाहिए। पाठ्यचर्या ही अवधारणा है कि- 'शिक्षा की वह तय सामग्री इसलिए पढ़ाई जानी चाहिए ताकि शैक्षिक कर्म या संस्थान के लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके' (विन्च 1996 : 45)। पाठ्यचर्या के निर्धारण में और भी कई ध्यान रखने योग्य बातें हैं, जिनकी तरफ हम धीरे-धीरे बढ़ेंगे, परंतु मूलभूत सिद्धांत यह है कि पाठ्यचर्या शिक्षा के लक्ष्य के प्रति ईमानदार हो।

तीसरे, लक्ष्य का गठन देश के ऐतिहासिक विकास, उसकी संस्कृति, देश की राजनीतिक इच्छाओं, सामाजिक परिस्थितियों व मानवीय मूल्यों को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए (NCERT 2005 : 10)। इस लेख में हमें शिक्षा के लक्ष्यों को विस्तार से दर्शाने की जरूरत नहीं है, बल्कि यहां हम शिक्षा के लक्ष्य राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (2005) में दी गई व्याख्या से ले सकते हैं, जिन्हें काफी अच्छे से अभिव्यक्त किया गया है। इन्हें सार रूप में इस प्रकार लिखा जा सकता है -

- i. लोकतंत्र व लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति तार्किक प्रतिबद्धता
- ii. विचार व कर्म की स्वतंत्रता
- iii. अन्य लोगों के कल्याण व भावनाओं के प्रति संवेदनशीलता
- iv. सीखने में स्वतंत्रता
- v. समाज में विभिन्न तरीकों से योगदान देने की क्षमता जिसमें आर्थिक प्रक्रिया भी सम्मिलित है
- vi. सुंदरता व कला के प्रारूपों की सराहना व सौंदर्यबोध का विकास

उपरोक्त लक्ष्य काफी सामान्य किस्म के हैं तथा कोई यह नहीं कह सकता कि उसने इन लक्ष्यों को पूर्णतया प्राप्त कर लिया है। यह लक्ष्य एक दिशा उपलब्ध करवाते हैं, तथा उस दिशा में हुई प्रगति का आकलन करने के लिए सूचक उपलब्ध करवा सकते हैं। अतः इस रास्ते पर विद्यालयी शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर हासिल होने वाली उपलब्धियों के मापदंडों को परिभाषित करना संभव है। प्राथमिक शिक्षा के अंत में लोकतांत्रिक मूल्यों की एक हद तक की समझ की उम्मीद की जा सकती है और यह खेल में दूसरों के साथ ईमानदारी बरतने में अभिव्यक्त हो सकती है। इसी प्रकार विचार, कर्म व सीखने की स्वतंत्रता को भी आयु के अनुरूप परिभाषित किया जा सकता है।

पाठ्यचर्या उपरोक्त मान्यताओं से निर्देशित होनी चाहिए। दिए गए उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए जो कुछ भी पढ़ाया जाना जरूरी हो, उसे पढ़ाया जाना चाहिए। जाहिर है कि बच्चा किसी आयु में क्या सीख सकता है, उसे समझने के लिए सीखने और विकास से संबंधित मनोविज्ञान एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। सामाजिक अपेक्षाएं यह समझने में मदद करती हैं कि किसी संस्कृति में उपलब्ध सामग्री में से किस सामग्री का चयन किया जाए ताकि वो उस राज्य अथवा जिले के सभी बच्चों के लिए उपयुक्त, न्यायसंगत तथा समानता पूर्ण हो।

चौथा, अब जब हमने शिक्षा के लक्ष्यों, प्राथमिक व आरंभिक स्तर के अंत में पूरी की जाने वाली पाठ्यचर्या के उद्देश्यों, और पाठ्यचर्या की विषयवस्तु का निर्धारण कर लिया है, तब हमें इन लक्ष्यों और उद्देश्यों को पूरा कर सकने के लिए ऐसे उपयुक्त शिक्षण शास्त्र के बारे में विचार करना चाहिए, जो कि सिखाने के लिए चुनी गई विषय वस्तु और बच्चों की आयु के अनुरूप हो। इसके अतिरिक्त, इस संदर्भ के लिए उपयुक्त शिक्षण शास्त्र वह होगा जो कि ज्ञान की प्रकृति, सीखने के स्वीकृत सिद्धांतों, सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों व ऐतिहासिक परंपराओं तथा अन्य प्रासंगिक मुद्दों पर आधारित होगा। शिक्षण शास्त्र को मूर्त रूप में लागू करना सदा ही सतत रूप से चलने वाली एक ऐसी प्रक्रिया रही है जिसमें वैचारिक बातचीत, समझौते और सामंजस्य बिठाते रहना शामिल होता है। लेकिन इस लेख में मैं इसके एक ही पहलू पर कुछ हद तक काम करूंगा जो कि मेरी नजर में विद्यालय के ढांचे पर काफी गहरा प्रभाव डालता है और भारत देश की वर्तमान परिस्थितियों में इसे किसी भी सूरत में छोड़ा नहीं जा सकता।

एक उचित शिक्षण शास्त्र के बारे में विचार करते समय, चलिए हम ऊपर दिए गए लक्ष्यों में से किसी एक को लेकर बात करते हैं, उदाहरण के लिए - “विचार व कर्म की स्वतंत्रता”। स्वतंत्रता के लिए सिर्फ भाषा, गणित, विज्ञान, सामाजिक अध्ययन, इतिहास, संस्कृति इत्यादि का ज्ञान ही नहीं होना चाहिए बल्कि यह लक्ष्य मांग करता है कि हर व्यक्ति इन सब विषयों को समझ के साथ सीखे। क्योंकि अवधारणाओं, प्रक्रियाओं, तर्कों, व तथ्यात्मक सूचनाओं के बीच अंतर्संबंधों को समझे बिना विचारों की स्वतंत्रता और निर्णय लेने की क्षमता प्राप्त करना असंभव है। अतः समझ के साथ सीखना व रटत विद्या को पूरी तरह से नकारना, शिक्षण शास्त्र का एक जरूरी सिद्धांत हो जाता है। यह सिद्धांत बच्चों की शिक्षा में शुरुआत से लेकर अंत तक अपनाया जाना चाहिए।

यह सामान्य रूप से स्वीकृत बात है कि बच्चे अपनी तैयारियों तथा नजरियों में बहुत भिन्नता के साथ विद्यालय आते हैं। वयस्कों, काम के प्रति उनके नजरिए, उनकी भाषा विकास की क्षमता तथा उनकी सामान्य रुचियां अलग-अलग होती हैं। अतः उनकी सीखने की गति में भी व्यापक भिन्नताएं होना लाजमी है और ये भिन्नताएं अलग-अलग विषयों को सीखने और गतिविधियों को करने में भी हो सकती हैं। यदि हम चाहते हैं कि बच्चे समझ के साथ सीखें, तब सीखने की प्रक्रिया में बच्चे की रुचि और उसका प्रक्रियाओं में मानसिक रूप से शामिल होना जरूरी है। रुचि व मानसिक भागीदारी विकसित की जा सकती है, लेकिन इसे थोपा नहीं जा सकता। अतः बच्चे अपनी क्षमता व रुचि का विकास अलग-अलग गति से करेंगे। सभी पर समान गति से सीखने के लिए दबाव डालना, उनकी समझ के साथ सीखने की प्रक्रिया के साथ निश्चित तौर पर समझौता करना होगा और यह उनके लिए सीखने को असंभव भी बना सकता है।

यह बात हमें शिक्षण शास्त्र के दूसरे सिद्धांत की ओर ले जाती है और वह यह कि यदि हम चाहते हैं कि बच्चे समझ के साथ सीखें तो हमें बच्चों को उनकी अपनी गति से सीखने देना होगा। बच्चे के साथ लगातार काम करके उसकी सीखने की गति में सुधार लाया जा सकता है किन्तु इसे थोपा नहीं जा सकता।

मन व कर्म की स्वतंत्रता के लिए एक निश्चित स्तर का आत्मविश्वास, गलतियां करने व उनसे सीखने की स्वतंत्रता, मन की शंकाओं की अभिव्यक्ति और अध्यापक व पाठ्यपुस्तकों की किसी बात से असहमति होने की सूरत में उस असहमति को अभिव्यक्त करने की क्षमता रखना जरूरी है। इजराइल शेफलर (1973 : 62) कहते हैं कि- “अध्यापक को समझाने के लिए तैयार रहना चाहिए अर्थात् उसे विद्यार्थियों के सवाल करने व तर्क करने के अधिकार और इसी से जुड़े स्वयं का निर्णय लेने के अधिकार का सम्मान करना चाहिए” यह तभी संभव हो सकता है जब ऐसा माहौल उत्पन्न किया जाए, जहां बच्चा सुरक्षित महसूस करे व अध्यापक के साथ संबंध सहयोग तथा प्रोत्साहित करने वाला हो। सीखने के लिए अपने साथियों के साथ मिलकर खोजबीन करना, चर्चाएं करना, असहमति रखना व किसी सहमति पर पहुंचना जरूरी होता है। यह तथ्य हमें शिक्षण शास्त्र के अगले सिद्धांत की ओर ले जाता है, जिसके अंतर्गत

अध्यापक के साथ बच्चों का सहयोग आधारित व प्रोत्साहित करने वाला ऐसा संबंध होना चाहिए, जहां प्रश्न पूछने व शंका जाहिर करने को नकारा नहीं जाए बल्कि प्रोत्साहित किया जाए और इसके साथ ही स्वतंत्र तौर पर व अपने साथियों के साथ मिलकर खोजबीन करने के मौके दिए जाने चाहिए व चर्चा करने को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

सीखने के संदर्भ में दूसरा स्वीकृत विचार यह भी है कि सीखना मुख्य रूप से नए अनुभवों का पहले से मौजूद पुराने अनुभवों के साथ भाषा व अवधारणाओं के जरिए संबंध जोड़ना है। तो समझने का मतलब हुआ अपने खुद के अवधारणात्मक रंग पटल की रोशनी में अर्थ ग्रहण करना और अपने संयोजनों के बारे में जागरूक होना।

बच्चे घर और समुदाय से हासिल की भाषा और अवधारणाएं लेकर विद्यालय में आते हैं। ये हो सकता है कि उनकी भाषा व अवधारणाएं उतनी परिष्कृत न हों और यह भी हो सकता है कि उनकी कुछ अवधारणाएं अनुचित हों, पर यही वो आधारभूत औजार हैं जिनके जरिए बच्चा नई वांछित अवधारणा और अवधारणात्मक ढांचा हासिल करेगा। अतः अगर हम चाहते हैं कि बच्चा सीखने की प्रक्रिया में मानसिक रूप से भागीदारी करे तो उसकी भाषा व समझ को विद्यालय की सीखने की प्रक्रियाओं में स्वीकार किया जाना जरूरी है क्योंकि यही बच्चों को समझ के साथ सीखने में मदद करेंगी। यह तथ्य हमें अगले शिक्षण शास्त्रीय सिद्धांत पर ले जाता है जिसके अनुसार विद्यालय में सिखाने की प्रक्रिया बच्चे के स्तर से शुरू होनी चाहिए और उसकी भाषा व समझ को विद्यालय में स्वीकृत किया जाना चाहिए। यही वह कारण है कि जॉन ड्यूवि (1902 : 22) मानते हैं कि पाठ्यचर्या के 'मनोवैज्ञानीकरण' की आवश्यकता है।

विद्यालयों में हकीकत में काम करने के लिए तो शिक्षण शास्त्र के कई और सिद्धांतों की जरूरत पड़ेगी परंतु इस लेख के सीमित उद्देश्य के लिए हमने ऊपर जिन सिद्धांतों की बात की है, वे पर्याप्त हैं।

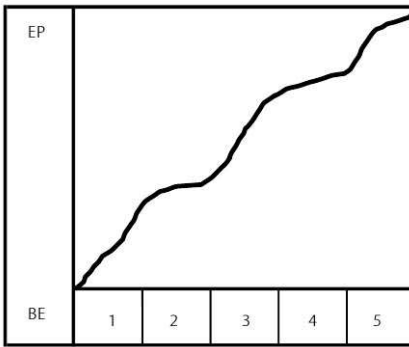
पांचवां, जब बच्चों को अपनी स्वयं की रफ्तार से सीखने की अनुमति मिल जाती है तब वे स्वाभाविक रूप से पाठ्यचर्या में दिए गए सीखने के विभिन्न स्तरों पर होंगे। समझ के साथ सीखने की संकल्पना यह मांग भी करती है कि जब तक किसी एक स्तर में कोई महारत हासिल ना कर ले वह सीखने के अगले स्तर या अगली अवधारणा तक नहीं जाता। इसके बिना नया कुछ सीखना संभव नहीं है। इसके लिए नई अवधारणा, कौशल, प्रक्रिया, सूचना या सिद्धांत सिखाने से पहले अध्यापक द्वारा बच्चे के सीखने के स्तर का सही रूप से आकलन करना आवश्यक है। ऐसा तभी संभव है जब आकलन सीखने व सिखाने की प्रक्रिया का अहम भाग बन जाता हो। यही सतत आकलन शब्दावली का सर्वश्रेष्ठ अर्थ है क्योंकि यह हर उस चीज का आकलन है जो बच्चा सीख रहा है और यह व्यापक भी है। अतः जिस शिक्षण शास्त्र का वर्णन ऊपर किया गया है उसके अनुसार काम करने के लिए सतत एवं व्यापक मूल्यांकन जरूरी है पर यह शिक्षण शास्त्र से स्वतंत्र नहीं है बल्कि उसी का एक अनिवार्य अंग है।

छठा, अब हम उस पाठ्यचर्या की सामग्री का गठन करने की बात करेंगे जिसकी चर्चा ऊपर की गई है। सीखने की गति की स्वतंत्रता एवं बच्चों के सहर्ष मानसिक जुड़ाव संबंधित पहलू पाठ्यचर्या की सामग्री को एक ठोस, सख्त व समय आधारित सीढ़ीनुमा ढांचे में रखे जाने की अनुमति नहीं देते। बल्कि इसे एक ऐसे सातत्य के रूप में होना चाहिए जिस पर बच्चे अपनी गति से आगे बढ़ते रह सकें।

इस तरह पाठ्यचर्या वर्ष आधारित विशिष्ट पैकेज के रूप में न रह कर सीखने के एक खुले वक्र का रूप धारण कर लेती है। इसमें लचीले क्रम व मापदंड हो सकते हैं, किंतु विभिन्न बच्चों को यह मापदंड अलग-अलग समय अवधियों में पूरे करने की गुंजाइश व सुलभता की अनुमति होनी चाहिए। इसमें मोटे रूप से लचीले मानक परिभाषित किए जा सकते हैं उदाहरण के लिए जैसे स्कूल में प्रवेश लेने वाले 6 वर्षीय बालक से 2 वर्ष के अंत में क्या सीखने की अपेक्षाएं होनी चाहिए तथा 4 साल स्कूल में रहने के बाद तथा प्राथमिक शिक्षण के अंत में क्या सीखने की अपेक्षाएं होनी चाहिए?

5					
4					
3					
2					
1					
	1	2	3	4	5

चित्र 1 : सीढ़ीनुमा पाठ्यचर्या



चित्र 2 : सीखने के वक्र के रूप में पाठ्यचर्या

वैकल्पिक पाठ्यचर्या का ढांचा

यह मापदंड सिर्फ बच्चे के सीखने की प्रक्रिया में हुई प्रगति का आकलन करने और उसकी अतिरिक्त मदद करने के लिए होने चाहिए या कुछ छूट गया हो, तो उसे नजर में लाने के लिए होना चाहिए। इनका इस्तेमाल बच्चे को 'पास' या 'फेल' घोषित करने के लिए नहीं किया जाना चाहिए। क्योंकि यहां कोई कठोर व सार्वभौमिक तौर से परिभाषित समय सीमा नहीं है, तो इस स्थिति में छात्र के फेल होने का प्रश्न ही नहीं उठता बल्कि वह यह कार्य पूरा करने के लिए महज कुछ और समय ले रहा है ऐसा माना जाएगा।

चित्र 1 में पाठ्यचर्या को एक सीढ़ी के रूप में दर्शाया गया है, यह निरंतर बढ़ते क्रम में नहीं है बल्कि यह असतत है तथा यहां प्रोन्नति का मौका केवल वर्ष में एक बार प्राप्त होगा। चित्र में लंबवत अक्ष पर कक्षाएं दर्शाई गई हैं तथा क्षैतिज अक्ष पर यह दर्शाया गया है कि स्कूल में कितने वर्ष अध्ययन किया गया।

चित्र 2 में पाठ्यचर्या को सातत्य के अनुसार दर्शाया गया है। इसका विभाजन वर्षों या कक्षाओं के अनुसार नहीं किया गया है। इस प्रकार की योजना में बच्चा एक सतत प्रक्रिया के तहत सीखता है। शिक्षा के आरम्भ तथा प्राथमिक शिक्षा पूरी होने को लंबवत अक्ष पर दर्शाया गया है। जबकि क्षैतिज अक्ष पर कितने वर्ष स्कूल में बिताए या कितने वर्ष पढ़ाई की, यह दर्शाया गया है।

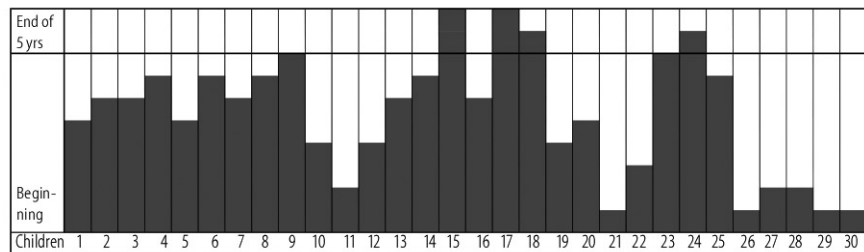
अब हम यदि शिक्षा की इस पद्धति एवं शिक्षण शास्त्र को ध्यान से देखें तो हम यह पाएंगे कि यहां पर समय-समय पर सामान्य परीक्षा की आवश्यकता नहीं महसूस होती। क्योंकि पाठ्यचर्या का गठन कक्षानुसार नहीं किया गया है, जिस कारण "पास-फेल" की धारणा कोई मायने ही नहीं रखती। बच्चों को किसी कक्षा में रोकने या न रोकने का सवाल ही नहीं उठता। विद्यालय में कक्षानुसार व्यवस्था का त्याग कर देने से बच्चे की प्रोन्नति या उसको रोकना, अर्थहीन हो जाता है। प्रोन्नति कुछ भी नहीं बल्कि सतत आगे की तरफ बढ़ना है जो कि बच्चे की स्वयं की उपलब्धि है।

अब केवल एक ही आवश्यकता बच जाती है, कि पांच वर्षों के समापन पर (प्राथमिक शिक्षा पूर्ण होने पर) तथा आठ वर्ष पूरे होने पर (आरंभिक शिक्षा पूर्ण होने पर) स्पष्ट रूप से कुछ मापदंड रेखांकित होने आवश्यक हैं। बच्चों को उपलब्धि का प्रमाण-पत्र तभी दिया जाएगा जब वे इन मापदंडों पर खरे उतरें या वे मापदंड पूर्ण करते हों। हम यहां इस बात पर गौर कर लें कि एक ऐसा प्रमाण-पत्र जो कि एक निर्धारित स्तर के सीखने की गारंटी नहीं ले सकता, वह एक निरर्थक कागज के टुकड़े के अलावा कुछ नहीं है।

इसलिए विद्यालयों को यह सुनिश्चित करना होगा कि ऐसे प्रमाणपत्र को सिर्फ बच्चों के सीखने के स्तर के अनुसार जारी करें ना कि इस आधार पर कि बच्चे ने विद्यालय में कितने वर्ष बिताए हैं। इसका यह मतलब कतई नहीं है कि "पास-फेल" की व्यवस्था को पिछले दरवाजे से वापस लाया जाए। पहली बात तो मापदंडों की पूर्ति को पतली रेखा की बजाय एक गलियारे के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। दूसरे, क्योंकि पाठ्यचर्या का ढांचा "सीखने के एक वक्र" के रूप में है तथा शिक्षणशास्त्र सक्रियता पर जोर देता है अतः बच्चे को इसके लिए तैयार किया जाता है और जरूरत होने पर वह बिना किसी लांछन व तनाव के अधिक समय ले सकता है। एक वर्ष के पैकेज में यह अतिरिक्त समय नहीं है। यह समय कितना भी हो सकता है पर अमूमन साल भर से काफी कम ही होता है।

विद्यालय का ढांचा

विद्यालयों का कक्षानुसार बना ढांचा, इस तरह की पाठ्यचर्या योजनाओं व शिक्षणशास्त्र को सुव्यवस्थित रूप से नहीं चलने देता यही इसकी वास्तविक समस्या है। उपरोक्त योजना एक वैकल्पिक सोच व समझ के विद्यालय की मांग करती है जिसके कार्य करने का तरीका भी अलग हो। इसलिए सही मायने में एक ऐसे विद्यालय के ढांचे के स्वरूप की आवश्यकता है जो न केवल इस तरह की योजना को चलने दे अपितु इस तरह की स्कीम को चलाने के लिए सुविधापूर्ण वातावरण भी दे।



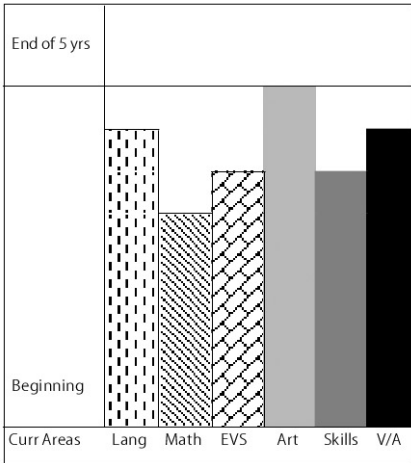
The children might be in school for any duration between just beginning to, say, 4 years.

चित्र 3 : पाठ्यचर्या के किसी विषय जैसे कि भाषा में किसी तय समय पर सीखने वाले बच्चों के किसी खास समूह की प्रगति

सबसे अधिक विद्यालयों में जिस बुनियादी बदलाव की आवश्यकता है, वह है विद्यालयों के कक्षानुसार ढांचे की कल्पना को त्यागना। जैसा कि हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं - कक्षा की परिकल्पना एक ऐसी विभाजित पाठ्यचर्या के बिना करना मुश्किल है जिसे एक तय समय में पूरा करने की अनिवार्यता हो। एक बार इस तथ्य को स्वीकृति मिल जाए कि 'शिक्षा' शब्द का प्रयोग करने के लिए सीखना सुनिश्चित करना जरूरी है, तो यह जरूरी हो जाता है कि यदि उस निर्धारित अवधि में निश्चित किए गए स्तर तक 'सीखना' पूरा न हो सका हो, तो हम इस बात की तरफ इशारा कर पाएं। यदि हम ऐसा नहीं कर पाते हैं तो 'कक्षा' की परिकल्पना का तो वैसे ही खंडन हो जाता है। इसलिए बच्चे को अगली कक्षा में जाने से रोकना जरूरी हो जाता है। इस तरह के ढांचे में बच्चे को न रोकना अथवा अपने आप ऊपर की कक्षा में प्रोन्नत करना स्कूल की संरचना को अप्रभावी बना देता है तथा शिक्षा का अधिकार अधिनियम के मानकों को इस पर न तो लागू किया जा सकता है और न ही समझा जा सकता है। परिणामतः जैसा कि ऊपर चर्चा की गई है पूरा ढांचा एक असंगतिपूर्ण ढकोसला या तमाशा बन कर रह जाता है।

एक ऐसा बेहतरीन विचार जिसे ठीक से लागू किया जा सकता है और जो कक्षा आधारित व्यवस्था की जगह ले सकता है वह है- विद्यार्थियों का लम्बवत समूह (vertical group of learners- VGL)। लम्बवत, का अर्थ यहां एक मिश्रित आयु वर्ग तथा विभिन्न स्तरों के विद्यार्थियों के समूहों से है। जैसे भाषा सीखने के स्तर के उदाहरण से अगर समझें तो छः से नौ वर्ष के बच्चों का एक ही समूह में होना और, उनमें से कुछ बच्चों का पढ़ने के आरंभिक स्तर पर होना जबकि कुछ बच्चों का ऐसे स्तर पर होना जहां वे आसानी से लिखना व पढ़ना जानते हों। इस संकल्पना को गहराई से समझने के लिए हमें "मल्टीग्रेड शिक्षण" की संकल्पना से इसका अंतर स्पष्ट करना होगा जो कि भारतीय शैक्षिक विमर्श में एक और अव्यवहारिक अवधारणा है।

मल्टीग्रेड शिक्षण में बच्चों को विभिन्न वर्गों (ग्रेड्स) में विभाजित कर उनकी पाठ्यचर्या भी वर्गानुसार निर्धारित कर दी जाती है तथा विभिन्न वर्गों के बच्चों को एक शिक्षक के साथ एक ही कमरे में बिठा दिया जाता है। यह शिक्षक फिर अपना समय उन सब वर्गों के बीच बांटते हुए बिताता है, अधिक से अधिक वह उन्हें ऐसी किसी गतिविधि में सम्मिलित करता है, जो कि इस धारणा से की जाती है कि इससे सभी वर्गों के बच्चों को सीखने का यथोचित मौका मिले। लेकिन इस बात में काफी संशय है कि यह धारणा कहां तक सही है। जब पाठ्यचर्या को एक वक्र के रूप में संयोजित किया जाता है, तब किसी भी प्रकार के वर्गों का प्रश्न ही नहीं उठता। विद्यार्थियों के लम्बवत समूह के बच्चे बेशक अलग-अलग स्तरों पर होते हैं किन्तु वे अलग-अलग वर्गों में नहीं होते, इस व्यवस्था में वर्ग या 'ग्रेड' को तो परिभाषित भी नहीं किया जाता।

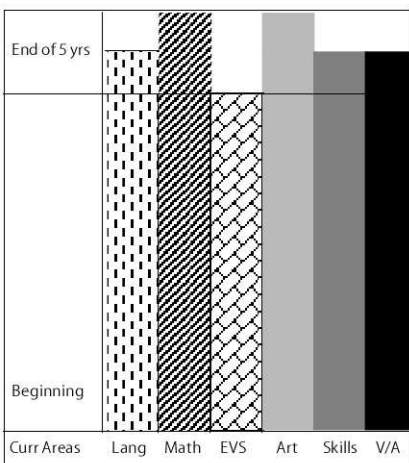


चित्र 4 : विद्यालय में 5वें वर्ष की शुरुआत में किसी बच्चे के सीखने के स्तर

भारत में शैक्षिक विमर्श में दो और संकल्पनाओं का बड़े भ्रामक तरीके से प्रयोग किया जाता है, वे हैं, “सीखने का स्तर” एवं “सीखने की क्षमता”, “सीखने की क्षमता” बच्चे के एक वांछनीय निश्चित विषय वस्तु को आत्मसात करने के कौशल से संबंध रखती है, जबकि “सीखने का स्तर” इस ओर इंगित करता है कि पदानुक्रमित तरीके से संयोजित की गई सीखने की विषयवस्तु में बच्चे ने कितनी प्रगति की है। कई कारणों से इस व्यवस्था में ऐसा हो सकता है कि सीखने की उच्च क्षमता वाला बच्चा सीखने के वक्र पर नीचले स्तर पर हो तथा सीखने की कम क्षमता वाला बच्चा वक्र पर ऊपरी स्तर पर हो। विद्यार्थियों के लम्बवत समूह में हम बच्चों की सीखने की क्षमताओं की बात नहीं कर रहे अपितु उनके सीखने के स्तरों की बात कर रहे हैं। कक्षा क्षेत्रीय रूप से पूरे विद्यालय में व्याप्त है जबकि विद्यार्थियों का लम्बवत समूह सीखने वाले बच्चों का ऐसा समुच्चय है जिसे किसी एक शिक्षक के सुपुर्द किया जाता है और जो कमरा व सीखने की साधन सामग्री परस्पर साझा कर रहा होता है। इस तरह विद्यार्थियों का लम्बवत समूह किसी भी स्कूल के समुचित ढंग से संचालित होने की योजना की एक ईकाई बन जाता है।

उदाहरण के लिए, यदि विद्यार्थियों के एक लम्बवत समूह में 30 विद्यार्थी हैं तो वे सभी सीखने के अलग-अलग स्तरों पर हो सकते हैं, जैसा कि चित्र 3 में दर्शाया गया है।

बच्चों की आयु विद्यार्थियों के लम्बवत समूह में छः से नौ वर्ष तक हो सकती है। उनके स्कूल में पढ़ने का कार्यकाल 1 वर्ष से 4/5 वर्ष हो सकता है, और इस कारण स्वाभाविक रूप से वे सभी सीखने के विभिन्न स्तरों पर होंगे। जाहिर है कि विद्यार्थियों के एक ही लम्बवत समूह में छोटे-छोटे उपसमूह हों जिनमें विद्यार्थी कमोबश एक जैसे सीखने के स्तर पर हों, बराबरी की आयु के हों, तथा स्कूल में उनका कार्यकाल भी समान हो। दूसरी तरफ विद्यार्थियों के उसी समूह में ऐसे बच्चे भी हों जो कि किसी खास बच्चे से सीखने में आगे हों, इस तरह से एक ऐसी रचनाशील स्थिति उत्पन्न होती है, जहां अपने से छोटे बच्चों की मदद की जा सकती है व अपने से बड़ों की मदद ले पाना संभव हो सकता है। यह व्यवस्था परिवार या पास-पड़ोस के खेल समूहों का ही एक और रूप होती है, जहां छोटों की देखभाल करने की, जिम्मेदारी निभाना सीखने की, सहयोग करना सीखने की, एक दूसरे को सहायता करना सीखने की तथा दूसरों के प्रति संवेदनशील बनना सीखने की स्थितियां भी उत्पन्न होती हैं। यह सब लाभ अकादमिक स्तर पर हो रहे सीखने के अलावा हैं। विद्यार्थियों के लम्बवत समूह में बच्चों के लिए न केवल विभिन्न स्तरों पर रहते हुए सीखने की सम्भावना होती है, बल्कि एक बच्चे के लिए स्कूल के विभिन्न विषयों में अलग-अलग स्तरों पर रह सकना भी संभव होता है, जैसा कि चित्र 4 में दर्शाया गया है।

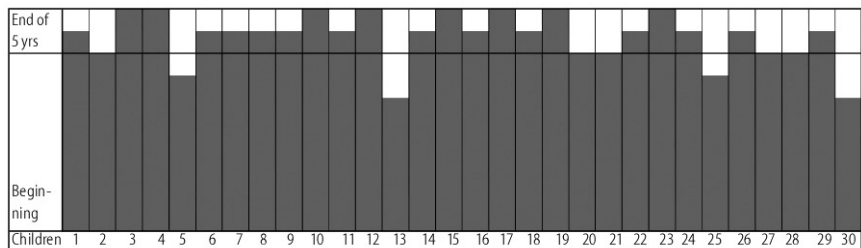


चित्र 5 : विद्यालय में 6वें वर्ष की शुरुआत में किसी बच्चे के सीखने के स्तर

चित्र में जिस बच्चे का सीखने का स्तर दिखाया गया है, वह बच्चा निर्धारित पाठ्यचर्या में अलग-अलग स्तरों पर है। उसके इस तरह से अलग-अलग स्तरों पर होने से कुछ भी समस्या उत्पन्न नहीं होगी जब तक कि पांच साल की अवधि के अंत में वह मोटे रूप में प्रत्येक विषय में जो उपलब्धि अपेक्षित है, उस तक पहुंच जाए, जैसा कि चित्र 5 में दर्शाया गया है।

जब तक न्यूनतम मानक हासिल किए जा रहे हों तब तक अलग-अलग विषयों में उपलब्धियां भी भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। चूंकि विद्यालय विद्यार्थियों के लम्बवत समूह पद्धति पर आधारित है अतः यदि बच्चा किसी विषय में उच्च प्राथमिक स्तर पर जाने के लिए पर्याप्त रूप से तैयार नहीं है, तो भी कोई समस्या उत्पन्न नहीं होगी और वह आठवें साल तक- जो कि आरंभिक शिक्षा का आखिरी साल भी है- अपनी जगह व गति के हिसाब से सीखना जारी रख सकता है।

विद्यार्थियों के विभिन्न लम्बवत समूहों में जिन बच्चों ने पांच वर्ष पूरे कर लिए हैं उनकी समग्र प्रगति चित्र 6 में दर्शाई स्थिति जैसी हो सकती है।



चित्र 6 : विद्यालय में 5 वर्ष पूरे करने वाले सभी बच्चों की पाठ्यचर्या के किसी खास विषय जैसे कि गणित में प्रगति

चित्र 6 में संख्या 5, 13, 25, एवं 30 में जो बच्चे दर्शाए गए हैं, वे सीखने के अपेक्षित स्तर तक नहीं पहुंच पाए हैं। यह स्कूल की नीति तथा अपेक्षित स्तर और प्राप्त स्तर के अंतर पर निर्भर करता है कि ये बच्चे अभी उच्च प्राथमिक स्तर पर जाएं या फिर हो सकता है कि उन्हें कुछ अतिरिक्त समय प्राथमिक स्तर पर लगाना पड़े। चूंकि, इस व्यवस्था में अगली कक्षा में प्रोन्नत होने की कोई संकल्पना नहीं है अतः ये बच्चे जैसे ही अपेक्षित स्तर प्राप्त कर लेंगे बिना किसी शैक्षिक सत्र की परवाह किए उच्च प्राथमिक स्तर पर पहुंच जाएंगे। बच्चों का स्वयं का शिक्षा से जुड़ाव, पांच सालों तक परीक्षा के बजाए सीखने पर ध्यान केन्द्रित करना और इसके साथ-साथ उनकी समझ यह सब मिलकर बच्चों में स्कूल व सीखने के प्रति एक ऐसा नजरिया विकसित करेंगे जिसमें असफल होने व लांछन लगने का भाव नहीं होगा।

लेकिन, यदि इसी तरह की स्थिति बच्चे के 14 वर्ष के हो जाने पर या आठ वर्ष स्कूल में बिताने पर भी उत्पन्न होती है, तो उसका हल अलग ढंग से खोजने की आवश्यकता है। जिस बच्चे ने आरंभिक शिक्षा में सीखने का अपेक्षित स्तर प्राप्त न किया हो, तो ऐसे बच्चे को कक्षा नौ में प्रवेश देना ना तो बच्चे के स्वयं के हित में है ना यह समाज के हित में है। कक्षा नौ में प्रवेश वर्ष में एक बार एक निश्चित अवधि में होता है जो कि अमूमन शैक्षणिक सत्र की शुरुआत में होता है, ऐसे में बच्चे को एक अतिरिक्त साल इंतजार करना पड़ सकता है। हालांकि ऊपर जिस पद्धति का वर्णन किया गया है उसमें स्कूल का वातावरण तथा शिक्षण पद्धति दोनों ही बातें बच्चे को इस तरह की रुकावट के लिए बौद्धिक व भावनात्मक रूप से तैयार करती हैं तथा इसके लिए भी तैयार करती हैं कि वह इसे अपनी प्रगति में एक अस्थायी रुकावट की तरह ले।

इस तरह की व्यवस्था (पाठ्यचर्या, शिक्षणशास्त्र तथा विद्यालय का ढांचा) सतत एवं समग्र मूल्यांकन के साथ न केवल मेल खाती हुई होगी बल्कि आरंभिक शिक्षा के लिए भी अनिवार्य साबित होगी। ऐसी व्यवस्था का सतत एवं समग्र मूल्यांकन के बिना क्रियान्वयन संभव नहीं होगा, तथा सीखने-सिखाने की प्रक्रिया का अभिन्न अंग होने के कारण अब उसका अतिरिक्त बोझ भी महसूस नहीं होगा। बच्चे को अगली कक्षा में जाने से रोकने या नहीं रोकने का तो इस व्यवस्था में सवाल ही नहीं उठता। अब शिक्षा एवं सिखने की प्रक्रिया पर इस तरह रटकर परीक्षा देने का दबाव व उस कारण अभिभावकों व बच्चों पर पड़ता बोझ नहीं होने से, वे बोझ मुक्त हो जाएंगे। इससे समाज की शिक्षा एवं सीखने की कल्पना में व्यापक विस्तार होगा।

शिक्षा का अधिकार अधिनियम पर प्रभाव

इनका शिक्षा का अधिकार अधिनियम पर काफी प्रभाव पड़ेगा तथा बड़ी मात्रा में अधिनियम में संशोधन की आवश्यकता पड़ेगी। इस लेख के आरम्भ में दिए गए कुछ उदाहरणों को लेकर हम देखेंगे कि किस प्रकार से इन नियमों में सुधार करने की आवश्यकता पड़ेगी।

सुधार की प्रक्रिया में पहला कदम होगा आरंभिक शिक्षा को सीखने के मापकों द्वारा परिभाषित किया जाएगा ना कि बच्चे की आयु या फिर उसके द्वारा स्कूल या कक्षा में बिताए गए वर्षों से। हालांकि अभी भी यह कहना संभव है कि सीखने की तय मात्रा को आम तौर पर 14 वर्ष की आयु तक व आठ साल विद्यालय में बिताने पर पूरा हो जाना चाहिए किन्तु परिभाषा को हासिल किए जाने वाले मानकों के संदर्भ में निर्धारित होना होगा। “पहली से आठवीं कक्षा तक की शिक्षा”- वाली वर्तमान परिभाषा को बदलकर- “ऐसी शिक्षा जिसके द्वारा सीखने के उन मानकों हासिल किया

जा सके जिन्हें राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा(एनसीएफ) द्वारा ऐसी शिक्षा के लिए परिभाषित किया गया है।” किया जा सकता है। आगे यह स्पष्ट कर दिया जाए कि इसे सामान्य तौर पर पढ़ाई के आरंभिक 8 वर्षों में या 14 वर्ष की आयु पूर्ण होने तक पूरा हो जाना चाहिए।

भौतिक ढांचा, शिक्षक-छात्र अनुपात, सीखने-सिखाने तथा खेलों के साधन आदि संबंधी नियम निर्धारित करते समय छात्र-छात्राओं की संख्या व विद्यार्थियों के कितने लम्बवत समूह हैं इसको ध्यान में रखना पड़ेगा।

सीखने के तय किए गए मानकों के आधार पर “आरंभिक शिक्षा” को परिभाषित करने की आवश्यकता होगी। “बालक-बालिका की आयु अनुसार कक्षा में प्रवेश” तथा स्तर पर लाने के लिए “विशेष प्रशिक्षण” आदि संबंधी नियम नई व्यवस्था में बेकार हो जाएंगे क्योंकि इस व्यवस्था में अब इन सब बातों का ध्यान स्वतः ही रख लिया जाएगा।

शिक्षक “पूरा पाठ्यक्रम एक तय समय अवधि में ही पूरा करें” ऐसी अपेक्षाओं की आवश्यकता व्यर्थ तथा अनावश्यक हो जाएगी। तथा दूसरे प्रस्तावित प्रतिबंध जैसे कि “यह सुनिश्चित करना कि बच्चे एक तय अवधि में सीखने के वांछनीय स्तर को प्राप्त कर लें” निरर्थक हो जाएंगे। अब शिक्षा का केंद्र “पाठ्यचर्या पूरा करने” से हट कर “बच्चों की सीखने की क्या उपलब्धियां रहीं हैं” इस पर रहेगा।

“स्कूल में भर्ती होने वाले किसी भी बच्चे को अगली कक्षा में जाने से रोका नहीं जाएगा” तथा शिक्षक को “प्रत्येक बच्चे का आकलन करना चाहिए तथा यदि जरूरत हो उसी अनुसार अलग से शिक्षण करवाना चाहिए” जैसे नियम अब व्यर्थ साबित होंगे क्योंकि अब तो यही एक तरीका होगा जिसके आधार पर पूरी शिक्षा, पाठ्यचर्या, शिक्षणशास्त्र तथा स्कूली व्यवस्था का गठन होगा। यह सब मौजूदा शिक्षा का अधिकार अधिनियम में प्रस्तावित योजना को लागू करने के लिए किए जाने वाले जरूरी बदलावों का प्रतिनिधित्व करने वाले कुछेक उदाहरण हैं। यहां यह कहने की जरूरत नहीं है कि संक्षिप्त में प्रस्तावित इस योजना को लागू करने के लिए काफी मात्रा में सूक्ष्म स्तर पर सोच-विचार करने की आवश्यकता पड़ेगी, संभवतया सुझाई गई इस योजना के बारे में सोचने की प्रक्रिया के दौरान शिक्षा का अधिकार अधिनियम के आरंभिक शिक्षा की कल्पना में और भी कई फेरबदल करने की आवश्यकता पड़ सकती है और इन बदलावों का समावेश अधिनियम में करना पड़ सकता है।

निष्कर्ष

वर्तमान विद्यालयी ढांचे, उसकी पाठ्यचर्या तथा कक्षा की गतिविधियों के संदर्भ में सतत व समग्र मूल्यांकन तथा फेल न करने की नीति पर समय-समय पर चलने वाली बहसों बेकार प्रतीत होते हैं, भले ही दोनों पक्ष अपनी बात पर कितना भी दम भरते हों। आरंभिक शिक्षा का कक्षा अनुसार विभाजन सतत व समग्र मूल्यांकन को प्रभावी ढंग से कार्य नहीं करने देता और यह बस एक ढकोसला बन कर रह जाता है। फेल न करने की नीति भी एक अन्तर्विरोध दर्शाती है, क्योंकि इसमें बच्चे का अपने आप ऊपर के स्तर पर प्रोन्नत हो जाना ‘कक्षा’ की संकल्पना को नकारता तो है पर इस बात को स्वीकार नहीं करता कि यदि कक्षा की संकल्पना को नकारा जाता है तो सीखने के एक वैकल्पिक सूचक की आवश्यकता निकलकर आएगी। वर्तमान रूप में कक्षा की संकल्पना का छुपे हुए रूप में विरोध होने के कारण यह आवश्यकता उभर कर नहीं आ पाती तथा इसी कारण सीखने के वैकल्पिक सूचक का गठन नहीं हो पाता। परिणाम स्वरूप इस तरह का आरंभिक शिक्षण ‘कितने वर्ष स्कूल में बिताएं हैं’ के रूप में परिभाषित किया जाता है।

दूसरी तरफ परीक्षा तंत्र है जो कि भारतीय शिक्षण पद्धति पर पूरा दबाव डाले हुए है और वही छात्रों का अगली कक्षा में प्रोन्नति पाना या ना पाना तय करता है। यह छात्रों को सीखने में मदद नहीं करने वाली एक नुकसान दायक परिस्थिति में लाकर खड़ा कर देता है। यह शिक्षण शास्त्र, पाठ्यचर्या, पाठ्यपुस्तकों आदि में बदलाव लाने के सारे प्रयासों पर पानी फेर देता है, इसलिए किसी भी बदलाव के प्रयास में कामयाबी हासिल करने के लिए सर्वप्रथम परीक्षा तंत्र और छात्रों को अगली कक्षा में जाने से रोकने की व्यवस्था को त्यागना होगा।

जैसे कि पहले ही चर्चा की गई है यह तब तक संभव नहीं हो सकता जब तक बहुत बड़े स्तर पर पाठ्यचर्चा की व्यवस्था, शिक्षण शास्त्र तथा स्कूलों के ढांचे तथा कार्यप्रणाली को पुनर्कल्पित न किया जाए।

इस तरह की पुनर्कल्पना की जड़ में अपनी रफ्तार से सीखने की प्रक्रिया को बढ़ावा देना व कक्षा की संकल्पना को त्यागना, प्राथमिक एवं उच्च प्राथमिक शिक्षा के सीखने के स्तरों को कक्षाओं में विभाजित करके न देखना, बल्कि अंत में छात्र की सीखने में क्या उपलब्धि रही के रूप में देखना शामिल होगा। इस तरह की व्यवस्था में विद्यालय को विद्यार्थियों के लम्बवत समूहों का प्रयोग करना चाहिए। जब तक हम हिम्मत करके स्कूलों के कक्षा के आधार पर किए गए विभाजन को तोड़ नहीं देते, तब तक परीक्षाओं, प्रशिक्षण व शिक्षणशास्त्रों के सुधारों में नाकाम होते रहेंगे। ♦

भाषान्तर : एकलव्य नन्दवाना

लेखक परिचय: अजीम प्रेमजी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर एवं अकादमिक विकास के निदेशक हैं और दिगन्तर, जयपुर के संस्थापक सदस्य एवं अकादमिक सलाहकार हैं।

संपर्क : rohit.dhankar@apu.edu.in

यह लेख 25 मार्च, 2017 के ईपीडब्ल्यू से साभार

नोट्स :

1. "No-detention policy" is the idea of automatic promotion to the next class irrespective of what the child has learnt. It is in effect in elementary education since 2010 in the wake of the implementation of the Right of Children to Free and Compulsory Education (RTE) Act, 2009.

2. In our educational literature, we often have confusion regarding the meaning of content. Most often, "content" is contrasted with "abilities" and thought to be particular text, say stories in language and information in history or science. Content, here, is used in a much broader sense, which includes abilities, procedure, concepts, values, attitudes, and even particular texts to achieve all this; all that is to be learnt.

संदर्भ

Ambast, Shruti (2016): "India Will Grossly Fail Its Children If It Revokes the No-Detention Policy," Scroll.in, viewed on 20 February 2017, <http://scroll.in/article/809092/why-indiawill-grossly-fail-its-children-if-it-revokes-theno-detention-policy>.

ASER Centre (2015): "Annual Status of Education Report (Rural) 2014," New Delhi.

Dewey, John (1902): *The Child and the Curriculum*, Chicago: University of Chicago Press.

Government of India (1904): "Indian Educational Policy: Being a Resolution Issued by the Governor General in Council, on the 11th March 1904," Central Printing Press, Calcutta.

Hindustani Talimi Sangh (1938): "Basic National Education: Report of the Zakir Hussain Committee and the Detailed Syllabus with a Foreword by Mahatma Gandhi," Segaon, Wardha.

NCERT (2005): *National Curriculum Framework*, National Council of Educational Research and Training, New Delhi.

Scheffler, Israel (1973): *Reason and Teaching*, New York: Routledge & Kegan Paul.

Winch, Christopher (1996): *Quality of Education*, special issue, *Journal of Philosophy of Education*, Vol 30, No 1, pp 1-53.